



THE TIMES OF INDIA

Date:26-07-19

Ten concerns on Ayushman Bharat

Universal healthcare is coming, here's why those worries are mistaken

Indu Bhushan, [CEO of Ayushman Bharat]



Ayushman Bharat Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (AB-PMJAY) has been the most talked about health sector scheme in recent times. Given the scale and ambition of the scheme – with its target group larger than the combined population of Canada, the United States and Mexico – it is not surprising. As could be expected, the scheme has a large number of supporters who are highly inspired by its vision and promise. There are also groups of detractors who are concerned that the scheme either seeks to address a wrong problem or provide a wrong solution even if it aims to address the right problem. I address the ten most common concerns raised.

The most common refrain against AB-PMJAY is that the government should focus more on public health issues and preventive and promotive care. While it is correct that prevention is better than cure, in real life both are needed. The policy challenge is not prevention vs cure but how to provide both prevention and cure. What can poor people be expected to do when faced with catastrophic health expenditure? Usually, they forego treatment and hope for the best, or borrow heavily, or sell whatever assets they have, pushing them deeper into poverty. A welfare state ought to focus on curative aspects of in-patient care.

Some people argue that the government should not use its limited resources for support services through the private sector. The private sector plays a critical role in health sector. We will need to leverage the capacity, financing, skills and energy of the private sector to provide services to millions of people who have hitherto not had any access to these quality services. Strategically tapping private sector services might be a more efficient, effective and affordable solution.

There is a concern that the private sector is poorly regulated and therefore the government should first focus on strengthening regulations and ensuring they are enforced. Purchaser of health services can strengthen the regulations due to their strong financial leverage over the private sector. Since AB-PMJAY purchases health services for more than 50 crore population, it can (a) set up prices effectively; (b) influence quality of health services; (c) incentivise hospitals to improve quality with differential rates; and (d) enforce electronic data sharing by private hospitals.

Some point out that government services are free, what then is the value addition by AB-PMJAY? While most states seek to provide free healthcare through government hospitals, in reality, patients still have to spend a lot from their pocket. In many cases, they have to get the diagnostic services, drugs and implants from outside as they are often not available in the hospitals. All public tertiary care hospitals charge for major services such as heart operations, cancer treatment, and knee replacements.

Concerns are raised that the scheme will only enrich the insurance companies. These concerns are totally unfounded. First, most states have actually decided to go with trust mode. Two, even in states using insurance companies, they have put a claw-back clause in their contracts such that insurance companies can keep only 15% of total premium. Three, it has been observed that due to competition, insurance companies are quoting competitive premium.

Another question often raised is about the lack of supply to match the demand generated by AB-PMJAY. Demand creates its own supply and supply cannot be created without demand. The new demand will be met through excess existing capacity in the private sector and more efficient use of the current capacity in the short run.

Some academics have argued that the scheme may not be able to reduce the impoverishing catastrophic health expenditures. The following features of the scheme seek to ensure an effective coverage for catastrophic health expenditure. The health benefit cover in the scheme has been kept at Rs 5,00,000 which is sufficient to take care of almost all hospitalisation conditions. Second, the benefit package covers almost all health conditions that require hospitalisation/ day care surgeries. Third, the provider payment system has been designed to cover all costs related to hospitalisation and ensure that the patient does not need to pay anything.

Some predict the scheme is going to increase the cost of care. On the contrary, AB-PMJAY will significantly control the prices of health services by moving towards a high volume-low margin model.

AB-PMJAY is not affordable in long run, some detractors have pointed out. Affordability is a relative concept. If we do not provide any services, there is no government budget needed. However, providing much needed services to most needy section will need resources, which are fully within our means. The government is committed to increasing the budgetary allocations to 2.5% of GDP by 2025. AB-PMJAY currently costs less than 0.1% of GDP and will not cost more than 0.2% of GDP even when it matures in next few years.

Several states have their ongoing schemes and they do not gain much by joining AB-PMJAY, some people argue. AB-PMJAY offers some unique propositions to all states – access to financial resources, state-of-the-art, customisable technological platforms, implementation systems and world-class analytics and fraud monitoring systems at no additional cost. Due to the portability of services, beneficiaries of the states also gain from the nationwide network of hospitals.

Ayushman Bharat has put India on an irreversible path towards universal healthcare. The scheme will keep evolving, taking into account the experience of evidence generated from its implementation. Given the highest level of political support for these reforms, failure is not an option.

एनआईए को ऐसी शक्ति न दें कि बोलने से डर लगे

संपादकीय

कुछ समय पहले की बात है, सिंगापुर में न्यायविद और जजों का वैश्विक सम्मेलन हो रहा था। इस देश के बहुत सम्मानित पूर्व जज भाषण दे रहे थे। उन्होंने कहा, 'हमारे देश में पूरी तरह फ्रीडम ऑफ स्पीच (बोलने की आज़ादी) है' सभागार में उस देश के तमाम लोगों ने ताली बजाई। जज थोड़ा रुके और अगला वाक्य कहा, 'लेकिन फ्रीडम आफ्टर स्पीच (बोलने के बाद आज़ादी) की कोई गारंटी नहीं है'। ताली बजाने वाले सारे हाथों को मानो लकवा मार गया। संसद में गैर-कानूनी गतिविधि निरोधक कानून के कुछ नए सख्त प्रावधानों -व्यक्तिगत स्तर पर किसी को आतंकी घोषित कर संपत्ति जब्त करने का अधिकार राष्ट्रीय जांच एजेंसी (एनआईए) को दिए जाने- पर विपक्ष की नाराजगी पर देश के गृहमंत्री अमित शाह ने व्यंग्य कसते हुए कहा, 'अभी क्या, अब तो विचारधारा के नाम पर शहरी नक्सली भी नहीं बचेंगे'। आतंकी घोषित करने वाले प्रावधानों में से एक है- जो देश में आतंकवाद को बढ़ावा देने वाला कार्य करेगा'। आतंकवाद के खिलाफ इस एजेंसी को ताकत देना एक बात है लेकिन यह फैसला कि किसी बुद्धिजीवी या विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की किस तकरीर या लेख से कैसे नक्सलवाद को बढ़ावा मिलेगा, किसी सरकारी एजेंसी के भरोसे छोड़ दिया जाए तो देशभर में ताली बजाने वाले हाथों को लकवा तो मारेगा ही। यह विधेयक अगर कानून बन गया तो देश में फ्रीडम आफ्टर स्पीच संकट में आ जाएगा और तब एनआईए (सरकार) की नज़र मीडिया पर भी हो सकती है। एक उदार प्रजातंत्र वाले देश में इस तरह के अस्पष्ट कानून जो एजेंसियों को निर्बाध शक्ति दें, संविधान की भावना के अनुरूप तो नहीं ही हैं। यही कारण है कि बढ़ती 'भीड़ न्याय' (मॉब लिंगिंग) की प्रवृत्ति जाने-माने लोगों की चिंता बन गई है। एक ताज़ा डरावनी घटना उत्तर प्रदेश के बाराबंकी जिले के गांव की है। एक व्यक्ति रात में साइकिल से जा रहा था। एक गांव के पास कुत्तों ने उसे दौड़ाया। बचने के लिए साइकिल से गिरकर जब वह गांव में घुसा तो लोगों ने चोर समझकर उसे आग लगाकर मार दिया। जब हत्या के लिए सामूहिक रूप से हाथ उठे, पेट्रोल डाला और आग लगा दी तो पशु और आदमी में फर्क करने वाली बुद्धिमत्ता गायब थी। इस कानून के बाद खतरा उन सभी स्वच्छंद सोच वाले लोगों के लिए है, जो अच्छे काम पर तो ताली बजाते हैं, लेकिन सरकार गलत करे तो खुल कर बोलते हैं।

विशेष अदालतों का गठन

संपादकीय



बाल यौन उत्पीड़न की बढ़ती घटनाओं से चिंतित सुप्रीम कोर्ट ने यह आदेश देकर सही किया कि उन जिलों में विशेष अदालतों का गठन करके ऐसे मामलों का निस्तारण किया जाए जहां इस तरह के सौ से अधिक मामले सामने आ चुके हैं। कहना कठिन है कि ऐसे जिले कितने हैं। लेकिन इसे लेकर संदेह नहीं कि बालक-बालिकाओं से दुष्कर्म की घटनाएं तेजी से बढ़ रही हैं। इसे इस आंकड़े से अच्छे से समझा जा सकता है कि इसी वर्ष एक जनवरी से 30 जून तक देश भर में बच्चों से दुष्कर्म की 24 हजार से अधिक घटनाओं को एफआइआर के रूप में दर्ज किया जा चुका है।

चूंकि सुप्रीम कोर्ट ने अपने आदेश में यह भी स्पष्ट किया है कि केंद्र सरकार के खर्च पर गठित होने वाली विशेष अदालतें साठ दिन के अंदर काम शुरू कर दें इसलिए यह उम्मीद की जाती है कि ऐसा होगा, लेकिन उचित यह भी होगा कि यह सुनिश्चित किया जाए कि ये अदालतें फैसले देने में तत्परता का परिचय दें। यह अपेक्षा इसलिए, क्योंकि कई बार विशेष अदालतें भी धीमी गति से काम करती हुई दिखती हैं। निःसंदेह यह भी आवश्यक है कि निचली अदालतों के फैसलों की सुनवाई में देर न हो। इन मामलों का अंतिम स्तर पर जल्द निस्तारण करके ही यौन अपराधियों को कोई सही संदेश दिया जा सकता है।

कई राज्यों ने बाल दुष्कर्म के दोषियों के लिए मृत्यु दंड की सजा का प्रावधान कर रखा है। इसका उद्देश्य कठोर दंड के जरिये दुष्कर्मी तत्वों के मन में भय का संचार करना है। इसकी जरूरत केंद्र सरकार ने भी महसूस की और इसीलिए यौन उत्पीड़न से बच्चों को संरक्षण देने वाले अधिनियम अर्थात् पोक्सो को संशोधित कर यह प्रावधान किया गया है कि बच्चों से दुष्कर्म के गंभीर मामलों में फांसी की भी सजा दी जा सकती है। इसके पहले दुष्कर्म रोधी कानून को भी संशोधित कर मौत की सजा का प्रावधान किया जा चुका है, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि देश को दहलाने वाले निर्भया कांड के गुनहगारों को दी गई फांसी की सजा पर अमल अभी तक नहीं हो सका है।

कठोर कानूनों का महत्व तभी है जब उन पर अमल भी किया जाए। यह केवल सुप्रीम कोर्ट और केंद्र अथवा राज्यों सरकारों के लिए ही नहीं समाज के लिए भी गंभीर चिंता का विषय है कि बाल दुष्कर्म के मामले थमने का नाम नहीं ले रहे हैं। कोशिश केवल इसकी ही नहीं होनी चाहिए कि बाल दुष्कर्म के दोषियों को जल्द सजा मिले, बल्कि इसकी भी होनी चाहिए कि ऐसे घृणित अपराध होने ही न पाएं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:26-07-19

श्रम प्रवास से वृद्धि

संपादकीय

आंध्र प्रदेश विधानसभा ने गत बुधवार को एक ऐसे कानून पर मुहर लगाई जो राज्य के उद्योगों में तीन-चौथाई नौकरियां स्थानीय लोगों के लिए आरक्षित करने का प्रावधान करता है। मुख्यमंत्री वाई एस जगन मोहन रेड्डी की पार्टी वाईएसआर कांग्रेस ने विधानसभा चुनावों के दौरान इसे चुनावी मुद्दा बनाया था और यह कदम उसी वादे को पूरा करने की दिशा में उठाया गया है। आंध्र प्रदेश में कारोबार कर रही कंपनियों को तीन वर्षों के भीतर इस कानून का पालन करने के लिए कहा गया है। केवल दवा एवं पेट्रोलियम जैसे कुछ खास क्षेत्रों की कंपनियों को ही इससे छूट दी जाएगी और वह छूट भी मामला-दर-मामला तय होगी। आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र समेत कई राज्यों में अन्य राज्यों से रोजगार की तलाश में आने वाले लोगों की बढ़ती संख्या के चलते लंबे समय से टकराव की स्थिति बनती रही है और जगन मोहन सरकार का यह फैसला उसी का नतीजा है।

राज्यों में नेता अक्सर रोजगार का वादा पूरा करने के लिए निजी क्षेत्र पर स्थानीय लोगों को काम पर रखने का दबाव बनाते हैं। लेकिन ऐसे कानून से रोजगार की तलाश कर रहे लोगों के संतुष्ट हो जाने की संभावना नहीं होती है। दरअसल बदले हुए हालात में कंपनियां आंध्र प्रदेश में काम करने से पहले दो-बार सोचेंगी। वहीं पहले से मौजूद कंपनियों की श्रम लागत बढ़ जाएगी, काम पर रखे जा सकने लायक लोगों की संख्या कम हो जाएगी। फिर वे अधिक संतोषजनक कारोबारी माहौल वाली जगह जाने का रास्ता चुनने लगेंगी, चाहे वह जगह किसी अन्य राज्य में हो या किसी दूसरे देश में। पूंजी का पलायन हकीकत बन जाएगा। वह स्थिति रोजगार सृजन एवं वृद्धि की नहीं बल्कि गतिहीनता एवं शहरी अशांति को जन्म देगी।

आंध्र प्रदेश में लंबे समय से कारोबार के प्रति दोस्ताना रवैया रखने वाली सरकारें रही हैं लेकिन नए कानून से इस धारणा पर तगड़ी चोट पहुंचेगी। राज्य सरकार ने कहा है कि कुशल कामगारों की कमी को स्थानीय लोगों को काम पर नहीं रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता है और ऐसा होने पर कंपनियों को उन लोगों को खुद ही प्रशिक्षण देना होगा। इस तरह यह कानून कामगारों को कुशल बनाने का दायित्व सरकार से लेकर निजी क्षेत्र पर डाल देता है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस कानून को अन्य राज्यों में भी लागू करने की आवाज जोर पकड़ सकती है। वैसे मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकार की औद्योगिक नीति भी इससे खास अलग नहीं है जिसके मुताबिक सरकार की वित्तीय एवं अन्य मदद से स्थापित किसी भी कारखाने में 70 फीसदी नौकरियां स्थानीय लोगों के लिए आरक्षित रखनी होंगी।

बुरी लेकिन लोकलुभावनी नीति जंगल में लगी आग की तरह फैल सकती है। इसकी काफी संभावना है कि प्रवासी श्रमिकों की बड़ी संख्या वाले महाराष्ट्र एवं कर्नाटक जैसे राज्य भी इस तरह का कोई कानून लाने के बारे में चर्चा शुरू कर दें। ऐसा होना भारतीय संविधान के सिद्धांतों के अनुरूप नहीं है। इसके अलावा यह भारत की वृद्धि संभावनाओं पर भी गहरी

चोट करेगा। आर्थिक वृद्धि के सिद्धांत में एक बुनियादी एवं स्पष्ट नियम है कि अकुशल श्रमिकों को शहरों का रुख करना चाहिए ताकि वे अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने में योगदान दे सकें। अपनी क्षेत्रीय विषमताओं की वजह से भारत में यह प्रक्रिया स्वाभाविक तौर पर राज्यों के बीच भी घटनी चाहिए। ऐसे में श्रमिकों की आवाजाही पर पाबंदी लगने से भारत की वृद्धि संभावनाएं प्रभावित होंगी। चीन जैसे विशाल देशों ने इस आंतरिक प्रवास के चलते काफी अच्छा प्रदर्शन किया है। ऐसे कानून से भारत के तटीय एवं दक्षिणी राज्यों और उत्तरी राज्यों के बीच असंतोष भी बढ़ेगा। दरअसल तटीय एवं दक्षिणी राज्य विश्व अर्थव्यवस्था से अपना तालमेल बिठा चुके हैं जबकि उत्तरी राज्यों में बेरोजगार युवाओं की भरमार है और उनके पास रोजगार के लिए नजदीकी विकल्प भी नहीं हैं।

राष्ट्रीय
सहारा

Date:25-07-19

नख-दंत विहीन हुआ

संपादकीय

सूचना का अधिकार कानून सरकार और बाहुबलियों पर लगाम लगाने में किस हद तक सफल रहा है, और किस हद तक उनकी आंखों में खटकता रहा है, इसका अंदाजा इसी तय से लगाया जा सकता है कि अब तक 80 सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्या हो चुकी है। तय छिपा नहीं है कि इस कानून के तहत पूछे गए सवालियों से विगत में अनेक बार अनेक शक्तिशाली लोगों को असहज स्थिति का सामना करना पड़ा है

किसी देश में लोकतंत्र की सफलता का आकलन इस आधार पर किया जाता है, और किया भी जाना चाहिए कि वहां की सरकार ने किस हद तक अपने नागरिकों का सशक्तिकरण किया है। इस लिहाज से 2006 में बना सूचना का अधिकार कानून लोकतंत्र की गरिमा और प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला था। शासन-प्रशासन में पारदर्शिता कायम करने, भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने और अधिकारियों को जिम्मेदार बनाने के उद्देश्य से बनाया गया यह कानून हमारे हाथों में एक मजबूत और प्रभावी उपकरण था। लेकिन दुर्भाग्य कि अब उसमें संशोधन के जरिए मोदी सरकार हमारे उस सशक्त औजार को छीनने में जुट गई है।

मालूम हो कि सूचना का अधिकार हमें यों ही अचानक नहीं मिल गया था। न सरकार की भल मनसाहत या उदारता का परिणाम था। सच यह है कि इस कानून के लिए देश भर में आंदोलन किए गए थे। गहन जन संवाद कायम किया गया था। कहा जाए, तो सूचना का अधिकार कानून नागरिकों के संघर्ष का परिणाम था। अब मोदी सरकार संशोधन के जरिए उसे अप्रासंगिक बनाने पर आमादा दिख रही है। लोकतंत्र और संविधान के लिहाज से देखा जाए तो प्रस्तावित संशोधन न केवल उत्तरदायित्व, बल्कि संघवाद के विचार पर भी हमला है। बहरहाल, कोई यह न समझे कि सूचना के अधिकार को कुंद करने की पहले कोशिश नहीं हुई थी। सच तो यह है कि कानून बनने के तुरंत बाद से ही इसमें संशोधन करने की सरकारी कोशिशें होने लगी थीं, मगर अधिकार कार्यकर्ताओं और आम नागरिकों की सतत निगहबानी के चलते सफल नहीं

हो पाई थीं। आम रूप से यही आशा थी कि आगे इस कानून को और भी मजबूती मिलेगी, परंतु तब कहां किसी को पता था कि एक दिन कोई ऐसी भी सरकार आएगी, जो मजबूत करने के बदले कानून के ही पर कतरने लगेगी।

प्रस्तावित संशोधन विधेयक लोक सभा से पारित भी हो चुका है। दिलचस्प यह कि विधेयक पारित करने के पहले सरकार ने इस मुद्दे पर बहस कराने की जरूरत भी नहीं समझी, जबकि सूचना के अधिकार को कानूनी जामा पहनाने के पहले उस पर खूब बहस हुई थी। सरकार से बाहर के लोगों की राय भी ली गई थी। इतने महत्वपूर्ण कानून में बिना बहस-मुबाहिस के संशोधन के चलते सरकार की मंशा पर संदेह होना स्वाभाविक है। मोदी सरकार ने सूचना का अधिकार कानून के सेक्शन 13, 16 और 27 में संशोधन का प्रस्ताव किया है। मालूम हो कि ये सेक्शन केंद्रीय मुख्य सूचना आयुक्तों को चुनाव आयुक्तों और राज्य सूचना आयुक्तों को मुख्य सचिव की हैसियत प्रदान करते हैं, ताकि वे स्वतंत्र और प्रभावी ढंग से काम कर सकें। अब केंद्र सरकार इस संरचना को ही ध्वस्त करने में जुट गई है। परिणामस्वरूप केंद्र और राज्य सूचना आयुक्तों का कार्यकाल, वेतन-भत्ते और सेवा की अन्य शत्रे आदि तय करने का अधिकार केवल केंद्र सरकार के हाथों में होगा।

वैसे लोक सभा में विधेयक पेश करते हुए केंद्रीय मंत्री जितेन्द्र सिंह ने जोर देकर कहा कि सरकार का यह कदम बड़ा ही उदारतापूर्वक उठाया गया है, और सूचना का अधिकार कानून में कोई बुनियादी बदलाव नहीं होगा। हमें उनके बयान को उनकी मासूमियत नहीं समझना चाहिए क्योंकि सरकार की कार्यशैली से षड्यंत्र की बू आ रही है। सरकार की मंशा अच्छी है तो उसे गुप्त रूप विधेयक पेश करने की क्या जरूरत थी? क्या लोक सभा के पटल पर रखने के पहले विधेयक में प्रस्तावित संशोधनों पर बहस नहीं हो सकती थी? जाहिर है कि सरकार की मंशा में खोट है। उसने जिन संशोधनों का प्रस्ताव किया है, उससे सूचना के अधिकार कानून की आत्मा का ही कत्ल हो जाएगा। जब केंद्र सरकार सूचना आयुक्तों की सेवा शत्रे, कार्यकाल और वेतन-भत्ते तय करने का अधिकार हासिल कर लेगी तो कहने की आवश्यकता नहीं कि सूचना आयोग की स्वायत्तता ही समाप्त हो जाएगी। वह भी सरकार के किसी अन्य विभाग की तरह ही काम करने के लिए अभिशप्त होगा। जो भी व्यक्ति सूचना आयुक्त बनेगा, उसे सरकार के रहमोकरम पर ही आश्रित रहना होगा।

आखिर, सरकार को संशोधन में इतनी जल्दी क्यों है? कुछ लोगों का मानना है कि इसके पीछे बड़ी वजह है कि सूचना के अधिकार ने सरकारी दस्तावेज के साथ शक्तिशाली चुनावी उम्मीदवारों के शपथ पत्र की प्रति जांच में सहायक बना और कई आयुक्तों ने उनके बारे में प्रतिकूल जानकारियों को सार्वजनिक किया। इसके चलते अनेक उम्मीदवारों को असहज स्थिति का सामना करना पड़ा। इनकार नहीं किया सकता कि सूचना का अधिकार (आरटीआई) शक्ति और सत्ता के दुरुपयोग के खिलाफ सतत चुनौती बना हुआ है। भारत जैसे देश में, जहां कानून का शासन महज माखौल बनकर रह गया हो और भ्रष्टाचार के साथ-साथ शक्ति का लगातार दुरुपयोग होता हो, इस कानून ने खलल डाल दिया है। इसने सत्ता तक लोगों की पहुंच सुनिश्चित करने के साथ-साथ नीति निर्माण में भी उनके हस्तक्षेप के लिए जगह बनाई है। सूचना के अधिकार ने अधिकारियों की मनमानी, विशेषाधिकार और भ्रष्ट शासन के चेहरे से नकाब उतार फेंका है।

यह कानून सरकार और बाहुबलियों पर लगाम लगाने में किस हद तक सफल रहा है, और किस हद तक उनकी आंखों में खटकता रहा है, इसका अंदाजा इसी तय से लगाया जा सकता है कि अब तक 80 सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्या हो चुकी है। हमें किसी मुगालते में नहीं रहना चाहिए कि सरकार सूचना अधिकार कानून में केवल कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन करने की मंशा रखती है। तय छिपा नहीं है कि इस कानून के तहत पूछे गए सवालों से विगत में अनेक बार अनेक शक्तिशाली लोगों को असहज स्थिति का सामना करना पड़ा है। सरकार के लिए यह उसकी आंखों में चुभता कांटा

है, जिसे मोदी सरकार जल्द से जल्द निकाल फेंकना चाहती है। कहते हैं कि सतत निगरानी ही लोकतंत्र का मूल्य होती है। सूचना के अधिकार कानून का इस्तेमाल सतत निगरानी के लिए ही तो हो रहा था, लेकिन मोदी सरकार को वह क्योंकर स्वीकार होगा? वे तो अपनी सरकार का एकछत्र साम्राज्य चाहते हैं, और यह कानून इसमें बड़ी बाधा है। प्रस्तावित संशोधन सरकार को अनियंत्रित, भ्रष्ट और दंभी ही बनाएगा। इसलिए देश के नागरिकों को संशोधन का विरोध करना चाहिए क्योंकि वही उनके हक में होगा।



Date:25-07-19

Undermining RTI

Amendments should not downgrade the status of information panels

EDITORIAL

Any amendment to a law is bound to be viewed with suspicion if no fundamental need is seen for the changes it proposes. Amendments passed by the Lok Sabha to the Right to Information Act are so obviously unnecessary that naturally many see an ulterior motive. It is difficult not to concur with activists who contend that the amendments pose a threat to the freedom and autonomy of Information Commissions at the Central and State levels. The Central Information Commissioner, the corresponding authorities in the States (State Information Commissioners) and other Information Commissioners at both levels are statutory functionaries vested with the power to review the decisions of public information officers in government departments, institutions and bodies. The amendments propose to modify the status, tenure and conditions of appointment of these Commissioners and empower the Union government to set their tenure and remuneration. While the original law assured incumbents of a fixed five-year term, with 65 as the retirement age, the amendments say the Centre would decide their tenure. In one stroke, the security of tenure of an adjudicating authority, whose mandate is to intervene in favour of information-seekers against powerful regimes and bureaucrats, has been undermined. The original legislation says the salary and terms and conditions of service of the CIC are the same as those of the Chief Election Commissioner, equal in status to a Supreme Court judge. Similarly, the other Information Commissioners at the Central level have the same conditions of service as Election Commissioners. At the State level, the SIC has the same terms and conditions of service as Election Commissioners, while other Information Commissioners are equated with the Chief Secretary of a State.

The government claims its aim is to 'rationalise' the status of the authorities. It argues that while the Chief Election Commissioner is a constitutional functionary, the CIC is only a statutory authority. And while the CEC is equal in status to a Supreme Court judge, it would be incongruous for the CIC to enjoy the same status as the CIC's orders are subject to judicial review by the high courts. This is a fallacious argument as even the Election Commission's decisions can be reviewed by high courts. Protecting citizens' right to information is a cause important enough for adjudicating authorities to be vested with high status and security of tenure. Given the extent to which the RTI Act has empowered citizens and helped break the hold of vested interests over the administration, the law has always faced a threat from many in power.

The RTI Act was a consensus law and a product of public consultation. The present amendments have not been put to any debate. The government would do well to drop the Bill or at least send it to a parliamentary select committee for deeper scrutiny.
